आचार्यश्री का प्रवचन साहित्य : एक मूल्यांकन

□ डॉ० पुष्पलता जैन

आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० एक कुशल प्रवचनकार थे। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त प्रभावक और झकझोरने वाली थी। श्रोता उन्हें सुनकर कभी ऊबते नहीं थे और अपने व्यक्तित्व-विकास के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ से बन जाते थे। उनकी भाषा, शैली और विषय-प्रस्तुतिकरण में ऐसा आकर्षण था कि साधक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना नहीं रहता।

आचार्य श्री के बहु-आयामी व्यक्तित्व में से हम उनके समन्तभद्र प्रवचन-शील व्यक्तित्व को समझने का प्रयत्न करेंगे जिसमें बालकों और युवा पीढ़ी के साथ ही वृद्धों की चेतना को जाग्रत करने की अहम भूमिका रही है। हमारे सामने उनके प्रवचन साहित्य में से 'गजेन्द्र व्याख्यान माला' शीर्षक से प्रकाशित दो भाग (तीसरा और छठा) तथा 'जिनवाणी' में प्रकाशित कतिपय प्रवचन हैं जिनके आधार पर हम उसका मूल्यांकन कर रहे हैं और उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाल रहे हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से—आचार्य श्री आध्यात्मिक क्षेत्र में रचे-पचे साधक थे। स्वाध्याय और सामायिक आन्दोलन के प्रवर्तक थे इसलिए उनके प्रवचन का अधिकांश भाग अध्यात्म से अधिक सम्बद्ध है। अध्यात्म का ही एक भाग नैतिक तत्त्व है और दूसरा उसका विकसित रूप दर्शन है। अतः इन तीनों तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है। चूंकि आचार्य श्री आगम के मर्मज्ञ थे, उनके विचार और प्रवचन, आगम की सीमा से बाहर जाते दिखाई नहीं देते। उन्होंने आत्मा, कर्म, स्वाध्याय, पर्युषण, तप, त्याग, दान जैसे उपयोगी विषयों पर सरल भाषा में सोदाहरण अच्छा प्रकाश डाला है और आबाल वृद्धों को धर्म और अध्यात्म की ओर आकर्षित कर जीवन के मूल्य को सही ढंग से पहचानने का पथ प्रशस्त किया है। उनका समर्पित व्यक्तित्व अध्यात्म साधक था और वे समाज के उन्नयन में क्रांतिकारी परिवर्तक थे।

जिनवाणी और श्रावक—आचार्य श्री जिनवाणी को ज्ञानगंगा कहा करते थे जो मन-शुद्धि और आत्म-शुद्धि करती है। वाणी की निर्मलता वक्ता पर निर्भर करती है। चूंकि जिनवाणी का वक्ता राग-द्वेष से मुक्त वीतरागी सर्वज्ञ है अतः

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी वाणी का निर्मल और सर्वतोभद्र होना स्वाभाविक है। जिनवाणी का अवगाहन करने से हमारा पारस्परिक स्नेह बढ़ेगा और जीवन शांतिमय रहेगा। (जिनवाणी, पृ. १, अप्रेल १९८९, मई १९९०)।

उपदेशक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी को असत्य मार्ग न बताये। यह मार्ग तब तक नहीं हो सकता जब तक वह वीतरागी न हो। साधक का भी कर्तव्य है कि वह सत्य के पीछे कड़वापन बरदाश्त करे। जड़ को छोड़कर त्याग और गुण की उपासना जब तक नहीं होगी, तब तक सच्चा उपासक नहीं कहा जा सकता (जिनवाणी, मई, १९९०)। कामनाओं का शमन ही सच्चा श्रावक धर्म है—'कामेण कमाही कमियं खु दुक्खं'—दसवेयालिय। अगन्धन सर्प के समान छोड़ी हुई वस्तु को ग्रहण मत करो—'णिच्छंति वंत यं भुत्तुं कुले जाया अगन्धणे'। सही श्रावक के लिए शास्त्रों की सही जानकारी होना चाहिये। श्रावक माता-पिता, भाई के समान हैं जो परस्पर विचार-विनिमय कर तथ्य को समझने का प्रयत्न करते हैं। यही सम्यक्दर्शन है। (जिनवाणी, जून, १९८३)

'स्थानांग सूत्र' के आधार पर आचार्य श्री ने श्रावक के तीन भेद किये—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य श्रावक वह है जो स्थूल हिंसा का त्यागी हो, मदिरा-मांस-अंडे का सेवन न करे और नमस्कार मंत्र का धारक हो। मध्यम श्रावक वह है जो २१ गुणों का धारक, षट्कर्मों का साधक और १२ व्रतों का पालक हो। उत्कृष्ट श्रावक ही पडिमाधारी और वानप्रस्थाश्रमी कहा गया है। (जिनवाणी, जून, १९८३)

आत्म-साधना—'आचारांग-सूत्र', के 'पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खापमोक्खसि' के आधार पर आचार्य श्री ने आत्मा को ही अपना तारक माना है। सुख-दुःख का कारण हमारे भीतर ही है। बस, उसकी अनुभूति होनी चाहिए। मनुष्य की बुद्धि और भावना ही बंध और मोक्ष का कारण है। वह स्वयं ही तारण, मारण मंत्र का विधाता है।

आत्मा के द्वारा ही आत्मोद्धार होता है। आगम आत्मा की एकता प्रतिपादन करता है—'एगे आया।' सभी आत्मायें अपने मूल स्वरूप में एक-सी हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। उनमें जो विविधता है वह बाह्य निमित्त से हैं, कर्मों की विचित्रता के कारण हैं। आत्मा की ज्ञान-सुख रूप शक्तियां कर्मों से दूर हो जाने पर प्रकट हो जाती हैं। आभ्यन्तर और वाह्य परिग्रह की सीमा का भी यदि निर्धारण कर लिया तो प्रशस्त मार्ग प्राप्त हो सकता है। "इच्छा हु आगास समा अणंतिया" (उत्तराध्ययन) अतः परिग्रह की सीमा निर्धारित हो और आवश्यकता से अधिक धन का संचय न हो। आत्मज्ञान अनन्तशक्ति का स्रोत है। उसे प्राप्त किया जा सकता है (जिनवाणी, अगस्त, १९७५)। आत्मज्ञान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

और श्रद्धा को सुरक्षित रखने के लिए हिंसादिक कार्यों से दूर रहना चाहिये और आत्म-निरीक्षण करना चाहिये। (जिनवाणी, फरवरी, ८४)।

धर्म का स्वरूप—आचार्य श्री ने धर्म को मांगलिक एवं उत्कृष्ट माना है—"धम्मो मंगल मुक्किट्ठ" और यह धर्म है अहिंसा, संयम और तप। किसी भी प्राणी को किसी भी तरह न सताना ही अहिंसा है—'सब्बे पाणा, सब्बे भूया, सब्बे जीवा, सब्बे सत्ता न हंतब्वा' (आचारांग)। इस अहिंसा का पालन संयम से ही हो सकता है। रेशम, कुरुम, चमड़ा आदि हिंसा जन्य हैं अतः इनका उपयोग नहीं करना चाहिए। (जिन., सितम्बर, ८१)। धर्म के स्वरूप का वर्णन करने के पूर्व आचार्य श्री ने विनय पर चिंतन किया और उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आधारभूत तत्त्व बताया। ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में विनय धर्म का एक अपरिहार्य अंग है। यह ठीक भी है। पंच परमेष्ठियों को हमारा नमन हमारी विनय का प्रतीक है। उनकी दृष्टि में धर्म की दूसरी विशेषता है समदृष्टित्व, जिसके अन्तर्गत उन्होंने निश्छल हृदय से अपनी भूल की स्वीकृति, मर्यादा, मधुकरी वृत्ति द्वारा यथोचित आदान-प्रदान को रखा है (जिन. जुलाई, ८३)। आचार्य श्री मर्यादा पर अधिक ध्यान देते थे। इसलिए धर्म पर विचार करते समय उन्होंने मर्यादा को अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि शक्ति के अनुसार हमारी क्रिया हो, पर आचरण प्रामाणिक हो (जिन., अप्रेल, ८२)। यह धर्म इहभव और परभव में कल्याणकारी होता है। वह पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। क्रोध से निवृत्ति पैसे से नहीं हो सकती। धर्म कभी किसी को दुःख नहीं देता। दुःख का अन्त धर्म से होता है, मृत्यु से नहीं। धर्म नहीं तो कुछ नहीं (जिन. जुलाई, ८५)।

धार्मिकों की तीन श्रेणियाँ हैं—सम्यक्दृष्टि, देशव्रती और सर्वव्रती। इनमें सबसे मुख्य बात है आचरण में कदम रखना। सदाचरण को आचरण में लाने के दो रास्ते हैं—बुराई के अपथ्य को छोड़ देना और पथ्य को ग्रहण करना। आत्म-शान्ति के लिए धर्माचरण आवश्यक है। धर्माचरण के लिए कामनाओं का शांत होना आवश्यक है। दृढ़ता के बिना तपस्या हो ही नहीं सकती। उसमें न मत्सर होता है और न मन का कच्चापन। सेवा ही वस्तुतः सही तप है। सेवा ही धर्म है। धर्म वह है जो आत्मा को पतन से रोके। कुसंगति पतन का कारण है (जिनवाणी, जनवरी, ८२)।

मन के नियमन की बात करते हुए आचार्य श्री ने धर्म-साधना की बात कही है और उसे लोक-साधना से जोड़ दिया है। लोक-साधना भौतिकवादी प्रवृत्ति है पर उसका नियमन धर्म से होना चाहिए। आंतरिक परिष्कार के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। श्रेणिक की साधना को लोक साधना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा जा सकता है जिसमें धर्म और अर्थ के बीच सामंजस्य था। आज भी उसकी आवश्यकता है। सद्गुण हममें उसी तरह विद्यमान है जिस तरह लकड़ी में अग्नि। गृहिणी सुयोग्य हो और सदाचरण पूर्वक सन्तति निरोध का ध्यान रखे, यह आज की आवश्यकता है (जिन० अक्टूबर, ६०)। इसलिए धर्म शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है, सत्पुरुषार्थ ही प्रगति का संबल है, तन से पहले मन का चिंतन आवश्यक है, अपने अर्थार्जन के अनुसार व्यय करने की प्रवृत्ति हो, धन का प्रदर्शन न हो, मधुकरी वृत्ति हो, सामुदायिक चेतना के आधार पर मुनाफाखोरी संयमित हो, तप विवेकपूर्वक हो, स्वार्थ प्रेरित न हो (जिनवाणी, फरवरी, ८३)।

कर्मादान (कर्माश्रव के कारण)—जैन धर्म कर्म को पौद्गलिक मानता है इसलिए उसकी निर्जरा को संभवनीय बताता है। आचार्य श्री ने कर्मों के स्वरूप को सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया, जिसका प्रकाशन 'कर्मादान' के नाम से 'जिनबाणी' के अनेक अंकों में लगातार होता रहा है। कर्मादान से तात्पर्य है जिस कार्य या व्यापार से घनघोर कर्मों का बंध हो, जो कार्य महारम्भ रूप हो ऐसे कर्मों की संख्या आगम में १५ बतायी गयी है जिनमें दस कर्म से सम्बद्ध हैं और ५ व्यापार से। भोगोपभोग परिमाण व्रत में इन्हीं कर्मों के सम्बन्ध में मर्यादा की जाती है। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की ओर अपना रुझान बताते हुए उसे स्वास्थ्यप्रद, उपयोगी और अहिंसक चिकित्सा प्रणाली के रूप में देखा है (जिनवाणी, नबम्बर, ८७)।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—मृदु कर्म और खर कर्म। जिस कर्म में हिंसा न बढ़ जाये, यह विचार रहता है वह मृदु कर्म है और जो आत्मा के लिए और अन्य जीवों के लिए कठोर बने, वह खर कर्म है। मृदु कर्म सद्गति की ओर ले जाता है और खर कर्म दुर्गति की ओर। कर्मादान का संदर्भ खर कर्म से अधिक है। यह कर्मादान १५ प्रकार का है—१. अंगार कर्म, २. वन कर्म, ३. साड़ी कम्म (शकट कर्म—गाड़ी चलाना), ४. भाड़ी कम्म (जानवरों द्वारा भाड़ा कमाना), ४. फोड़ी कम्म (भूमि को खोदना), ६. दंत बाणिज्य (दांतों का व्यापार करना), ७. लक्ख वाणिज्य (लाक्षा का व्यापार करना), ८. विष वाणिज्य, ६. केश वाणिज्य, १०. जंत पीलण कम्म (यन्त्र पीड़न कर्म), ११. निल्लंछण कम्म (पशुओं को नाथने का कार्य करना), १२. दवग्गि दावणिया (खेत या चरागाह में आग लगा देना) १३. सरदह तलाय सोसणया कम्म (तालाब को सुखाने का काम करना) और १४. असईजन पोसणया कम्म (व्यभिचार जैसे घृणित कर्म) जिसका अर्थ कुछ लोगों ने किया कि साधुओं के अतिरिक्त किसी भूखे को रोटी देना पाप है। आचार्य श्री ने इस अर्थ की आलोचना की है (जिन. नवम्बर ८७, अक्टूबर ८८)।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय— कर्मादान की चर्चा करते हुए आचार्य श्री ने कहा कि मनुष्य जन्म पाकर भी यदि अभी कुछ नहीं किया तो कब करोगे ? (जिन. दिसम्बर, ८६)। मनुष्य अपने जीवन में चाहे जैसा काम करे, किन्तु यदि वह अपना अन्त समय सम्भाल लेता है तो सब कुछ सम्भल जाता है। चिलाती पुत्र की कथा का उदाहरण देकर उन्होंने अपने कथ्य को स्पष्ट किया। इसके लिए आचार्य श्री ने विशेष रूप से दो उपाय बताये—प्रथम प्रवृत्ति विवेकपूर्ण हो और द्वितीय स्वाध्याय—प्रवृत्ति हो। 'जयं चरे जयं चिट्ठे' का उद्‌घोष करके उन्होंने निष्काम सेवा पर अधिक बल दिया और ज्ञान-क्रिया पूर्वक साधना को सुख-शान्ति और आनन्द-प्राप्ति का उपाय बताया।

पर्युषण के षष्ठ दिवस को 'स्वाध्याय दिवस' मनाये जाने की संकल्पना के साथ आचार्य श्री ने 'अन्तगड सूत्र' का उदाहरण देकर सर्वप्रथम तो यह कहा कि जैन धर्म वर्ण, जाति आदि जैसी सीमाओं को बिल्कुल नहीं मानता। जो भी जिन-प्रभु को भजे, वही जैन है। तप, भक्ति, आचरण सभी साधनाओं का मूल आधार स्थल उन्होंने स्वाध्याय को माना। चूंकि वे आगम-परम्परा पर अधिक बल देते थे, इसलिए स्वाध्याय की परिभाषा "सुयधम्मो सज्झायो" (स्थानांग सूत्र) के रूप में स्वीकार की। यह स्वाध्याय धर्म का एक प्रकार है जिसमें स्वयं का अध्ययन और आत्म-निरीक्षण करना (स्वस्य अध्ययन स्वाध्याय) तथा साथ ही सद्‌ग्रन्थों का समीचीन रूप से पठन-पाठन करना। समीचीन का तात्पर्य है जिस ग्रंथ को पढ़ने से तप, क्षमा और अहिंसा की ज्योति जगे। 'दशवैकालिक' में ऐसे स्वाध्याय को समाधि की संज्ञा दी गई है। इसके चार लाभ हैं—सूत्र का ज्ञान, चित्त की एकाग्रता, धर्मध्यान तथा संत-समागम का लाभ (जिन. फरवरी, ८१) जिससे ग्रंथि भेद करने में सहायता मिलती है। इसे आचार्य श्री ने दैनिक क्रिया का अंग तथा समाज धर्म बनाने की प्रेरणा दी। इससे व्यक्ति या साधक का सर्वतोमुखी विकास हो सकेगा।

'स्वाध्याय' स्व-पर बोधक की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। केवलज्ञान के बाद श्रुतज्ञान का क्रम आता है जो स्वाध्याय का आलम्बन है, चारित्र का मार्ग-दर्शक है और षडावश्यकों को पालने के लिए सोपान है (जिन. जून, ८२)। इसे आचार्य श्री ने जीवन-निर्माण की कला के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें विषमतायें विराम ले लेती हैं, आहार शुद्धि को आधार मिलता है, भ्रातृत्व भावना पनपती है, अनुशासन बढ़ता है। इसलिए उन्होंने इसका प्रशिक्षण देने की पेशकश की जिससे सामायिक, प्रतिक्रमण और शास्त्रीय स्वाध्याय की पर-म्परा को विकसित किया जा सके। 'स्थानांग सूत्र' के आधार पर उन्होंने पुनः स्वाध्याय के पाँच लाभ बताये—ज्ञान-संग्रह, परोपकार, कर्मनिर्जरा, शास्त्रीय ज्ञान की निर्मलता और शास्त्र-संरक्षण (जिनवाणी, अगस्त, ८७)। 'ठाणांग'

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में लाभ के रूप में पाँच कारण दिये हैं—ज्ञान-वृद्धि, दर्शन-विशुद्धि, चारित्र-विशुद्धि, कषाय-विशुद्धि तथा पदार्थ ज्ञान (जिन. सितम्बर, ८७)। 'भगवती सूत्र' (२५.७) और 'औपपातिक' में स्वाध्याय के ५ भेद बताये हैं—वाचना, प्रतिपृच्छा, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना और धर्मकथा।

आचार्य जी के सान्निध्य में स्वाध्याय शिक्षण का मनोहारी कार्यक्रम चलता रहा है। इस शिक्षण में विचार-गोष्ठी, प्रश्नोत्तर, कविता पाठ, स्तुति पाठ, विचार-विनिमय, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन, मनन आदि कार्यक्रम रखे जाते थे। इससे अध्येताओं और स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए उसमें अभिरुचि जाग्रत हो जाती थी। इस सन्दर्भ में रायचूर में हिन्दी और जैन संस्कृति के विशेषज्ञ तथा कर्मठ कार्यकर्ता डॉ० नरेन्द्र भानावत के कुशल संयोजन में एक त्रिदिवसीय 'स्वाध्याय संगोष्ठी' का आयोजन भी किया गया था जिसमें स्वाध्याय के विविध आयामों पर विचार-विमर्श हुआ (जिन., नवम्बर, ८१)।

अशांति का मूल क्रोध-लोभादि विकारी भाव हैं। विशाखभूति और विश्वभूति का उदाहरण हमारे सामने है। इनसे मुक्त होने के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त जैसे साधन स्वाध्याय के साथ बहुत उपयोगी होते हैं और फिर सामायिक तो विशेष रूप से कषाय-भावों पर नियन्त्रण प्रस्थापित करने का अमोघ साधन है। 'भावी-विलोड़े का पट्टा आसानी से नहीं मिलता' वाली कहावत उसके साथ जुड़ी हुई है। बिना पुरुषार्थ के वह सम्भव नहीं होता (जिनवाणी, जनवरी, ८३)। आत्म स्नान ही प्रतिक्रमण है।

ज्ञान और सदाचरण—आत्म चिंतन और स्वाध्याय से मुमुक्षु भाव जाग्रत होता है, सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है, पुरुषार्थ में प्रवृत्ति होती है, वृद्धमति के समान जड़मति भी अग्रगण्य बन जाता है। इसलिए आचार्य श्री ने कहा कि हमें शस्त्रधारी नहीं, शास्त्रधारी सैनिक बनना चाहिए जिससे स्व-पर का भेद-विज्ञान हो जाये और आत्म-नियन्त्रण पूर्वक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। तभी परिज्ञा की उपलब्धि हो सकती है, संयम की सही साधना हो सकती है (जिन., अगस्त, ८२)। सम्यग्ज्ञान मुक्ति का सोपान है (बुज्झिज्ज त्ति उट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया, सूय. प्रथम गाथा)। उसके साथ सम्यक्क्रिया शाश्वत सुख देने वाली होती है। ज्ञान शून्य चरित्र भव-भ्रमण का कारण है, असंयम का जनक है। भवभ्रमण को दूर करने के लिए शारीरिक शक्ति की नहीं, आत्मशक्ति और शील की आवश्यकता होती है (जिन., अक्टूबर, ८३)। आत्मिक शक्ति बिना आहार-शुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती (आहार मिच्छं मियमेसजिज्जे, उत्तरा. ३२.४)। आहार शुद्धि ही जीवन शुद्धि है। उससे ज्ञान और क्रिया की ज्योति जगती है जो व्यक्तित्व के सही आभूषण हैं, (जिन., मार्च, ८९), मोक्षमार्ग के दो चरण हैं। (गजेन्द्र. भाग ६, पृ. १०)।

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

आत्मशुचि के उपाय—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिपालन से आत्मा पवित्रता की ओर बढ़ती है। ऐसी पवित्रता की ओर बढ़ने के लिए पर्युषण जैसे आध्यात्मिक पर्व अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। आचार्य श्री इस पर्व पर यथासमय प्रवचन करते रहे हैं और तप-त्यागादि के स्वरूप पर चिंतन करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में तपश्चरण का सार है—कषाय-विजय और कषाय-विजय मानवता की निशानी है (जिन., अगस्त, ८०)। अहिंसा और क्षमा सभी समस्याओं के समाधान के लिए अमोघ अस्त्र हैं। खमत-खामणा पर्व भी व्यक्तिगत विद्वेष की शांति के लिए मनाया जाता है (जिन., अगस्त, ८९)।

पर्युषण पर्व में तपोसाधना की जाती है। यह तप हिंसा नहीं, दया है, व्रतों की आराधना करने का उत्तम साधन है। तप ज्वाला भी है और दिव्य ज्योति भी। वह आत्मा के शत्रुओं-काम-क्रोधादि वृत्तियों को तपाता है। शरीर के प्रति ममत्व न रखने और अनासक्ति भाव होने से यह तप कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है (जिन., अक्टूबर, ८०)। अकेला ज्ञान कार्यकारी नहीं होता, उसके साथ दर्शन और चारित्र भी होना चाहिए। यह तपस्या प्रदर्शन का मुद्दा न वने बल्कि आत्म-बिशुद्धि और मोक्ष का साधक बनना चाहिए।

दान आत्म-पवित्रता के साथ दिया जाना चाहिए। ऐसा दान स्व-पर कल्याणक होता है इसलिए वह गृहस्थ-धर्म का प्रमुख अंग है जिसे आचार्य श्री ने द्रमक का उदाहरण देकर समझाया है। दान से ही वस्तुतः परिग्रह-त्याग की भावना की सार्थकता है। त्याग निरपेक्ष होता है पर दान में प्रतिलाभ की भावना सन्निहित होती है (जिन., मई, ८१)। त्याग ममत्वहीनता से पलता है, ममता-विसर्जन से पुष्पित होता है। इसके लिए वे ज्ञान-सरोवर में डुबकी लगाने के पक्ष में रहे हैं जिसे उन्होंने 'स्वाध्याय' की संज्ञा दी थी। प्रार्थना और भाव-भक्ति को आत्म-शोधन का मार्ग बताकर वे आत्म-शुद्धि को और भी पुष्ट करने के पक्षधर थे (जिन., सितम्बर, ७४, दि. ८०)।

भाषा-शैली—आचार्य श्री की भाषा संस्कृतनिष्ठ न होकर जन-साधारण के समझने लायक थी। उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, पर अधिक नहीं। व्यास शैली में दिये गये उनके प्रवचनों में बड़ी प्रभावकता दिखाई देती है। आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, ठाणांग आदि आगमों से उद्धरण देकर अपनी बात को कहने में वे सिद्धहस्त रहे हैं। भृगु पुरोहित, आनंद, अनाथीमुनि, भर्तृहरि, हरिकेशी, श्रेणिक, राजा वेणु, सुदर्शन आदि की कथाओं का उद्धरण देकर प्रवचन को सरस और सरल बना देते थे। 'ठकुर सुहाती', 'भाई का माना भाई', 'पठितव्यं तो भी मर्तव्यं, न हि पठितव्यं तो भी मर्तव्यं, तर्हि वृथा दंद खटाखट किं कर्तव्यं' (जिन., अगस्त, ८७), 'भावी बिलाड़े का पट्टा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आसानी से नहीं मिलता' 'अछूते का त्यागी' आदि कहावतों का प्रयोग कर उसे और भी सरल और आकर्षक बना देते थे ।

आचार्य श्री एक दूरदर्शी संत थे । वे परम्परा के पोषक थे पर सुधारवादी भी कम नहीं थे । सामंजस्य और समन्वय के आधार पर वे समाज को विघटन और टूटन से बचाते रहे हैं । आचार्य श्री की दृष्टि में सत्य, शांति और लोक-कल्याण के लिए परम्परा और सुधारवादी प्रयोग दोनों का उचित समन्वय होना आवश्यक है । उनकी समन्वयवादिता तब भी दिखाई दी जब उन्होंने स्थानक-वासी समाज के विभिन्न सम्प्रदायों को यथावत रखते हुए एक संयुक्त संघ बनाने की पेशकश की जो पृथक् नेतृत्व की स्थिति में भी परस्पर मधुर सम्बन्धों को कायम रख सके (जिन., मार्च-मई, ७१) ।

इस प्रकार आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य का मूल्यांकन करते समय हमें ऐसा अनुभव हुआ कि एक आध्यात्मिक सन्त अपने पवित्र हृदय से संसारी प्राणियों को भौतिकतावादी वृत्ति से विमुख कर उनके व्यक्तित्व का विकास करने के लिए कमर कसे हुए थे । उनकी प्रवचन-शैली में आगमन पद्धति का प्रयोग अधिक दिखाई देता है जहाँ वे केन्द्रीय तत्त्व को सूत्र रूप में रखते थे और फिर उसकी व्याख्या करते चले जाते थे । वे अपने प्रवचनों में राजस्थानी शैली के 'फरमाया' जैसे शब्दों का प्रयोग भी करते थे । वक्ता और श्रोता के बीच इतनी आत्मीयता स्थापित कर देते थे कि श्रोता मंत्रमुग्ध-सा होकर उनके वचनामृतों का पान करता था । यही कारण है कि उनके श्रावकों की संख्या अनगिन-सी हो गयी । श्रावकों के मन में उनके प्रति जो अपार भक्ति है, वह आचार्य श्री की लोकप्रियता का उदाहरण है ।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस. एफ. एस. कॉलेज, नागपुर (महाराष्ट्र)

अमृत-कण

मन की ममता जमीन से, जायदाद से, पैसे से छूटे तभी दान दिया जा सकता है, गरीबों की, जरूरतमन्दों की स्वधर्मियों की सेवा की जा सकती है । अगर परिग्रह पर से मन की ममता नहीं छूटती तो दान, सेवा आदि कोई शुभ कार्य नहीं हो सकता ।

—आचार्य श्री हस्ती

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org